मानसिक पर्यावरण प्रदूषण व उसका निवारण : श्रीमद्भगवद्गीता की प्रासंगिकता

प्रो. पूर्णचन्द्र उपाध्याय
आचार्य एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय बून्दी(राज.)

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

भूमिका - किसी भी राष्ट्र के विकास में पर्यावरण की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपादेयपूर्ण है। क्योंकि संपूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं प्रलय का मूल कारण पर्यावरण ही है। 'परितः आसमन्ताद् वृणोति आच्छादयति नाम परिरक्षति जगदिदमिति पर्यावरणम्।' अर्थात् जो संपूर्ण जगत् का संरक्षण एवं संवर्धन करता है वह पर्यावरण कहलाता है। यह सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक है। प्राकृतिक पर्यावरण जहां संसार के बाह्य तत्त्व का सुरक्षा कवच के रूप में कार्य करता है वहीं सांस्कृतिक पर्यावरण अन्तस्तत्त्व की सुरक्षा में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ये दोनों ही जीवजगत् के संरक्षण के साथ विकास में अनन्य साधक हैं। सांस्कृतिक पर्यावरण के प्रमुख तत्त्वों में से अन्यतम एवं महत्त्वपूर्ण है मानसिक स्वास्थ्य।

यह ध्रुव सत्य है कि कृत्रिमता के इस युग में विज्ञान की निरन्तर प्रोन्नति के कारण एक तरफ जहां समग्र विश्व भौतिकवाद के चरम पर पंहुच कर समस्त सुख सुविधाओं से सुसम्पन्न है, वहीं दूसरी ओर भारतीय ज्ञान विज्ञान परम्परा की अस्मिता का परिचायक अध्यात्मवाद से दूरी बनाने के कारण नैसर्गिक सांस्कृतिक पर्यावरण के प्रदूषण से प्रदूषित हो कर अवसाद के जाल में जकडता हुआ जैविक सत्ता के वास्तविक लक्ष्य आनन्दमय स्वरूप से अनभिज्ञ बनता जा रहा है। जिसके दुष्परिणाम से कोई भी अछूता नहीं है। आज प्रत्येक व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज एवं राष्ट्र तक संपूर्ण मानवीय जीवन मूल्यों का पतन लगातार विकराल बनता जा रहा है। इसका कारण है पाश्चात्य संस्कृति का भौतिकवाद। इस भौतिकवाद के चकाचौंध में मनुष्य ने अपनी नैतिकता से विमुख होकर आधि यानी मानसिक व्याधि

से सन्तप्त है। इस मानसिक पर्यावरण प्रदूषणरूपी सन्ताप से बचाव केलिए प्राच्य ज्ञान विज्ञान परम्परा के नवनीत स्वरूप एवं सनातन संस्कृति की अस्मिता का परिचायक श्रीमद्भगवद्गाता का कालजयी संदेश से बढ कर कोई अच्छा उपाय परिलक्षित नहीं होता है। क्योंकि अठारह अध्यायों की भगवद्गीता केवल एक शास्त्र या दर्शन ग्रन्थ नहीं है अपितु व्यावहारिक जीवन की समस्त उलझनों के समाधान सूत्र के साथ जीवन जीने का कलात्मक उपदेष्टा है।

मानसिक पर्यावरण प्रदूषण के कारण व निदान - जीवन रथ के यात्रापथ को सुगम बनाने में मनोवस्था की भूमिका सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि कर्म सम्पादन की प्रवृत्ति व निवृत्ति हेतु मन की सबलता ही पुण्य है और मन की दुर्बलता से बढ कर कोई बडा पाप नहीं है। इस मानसिक पर्यावरण को प्रदूषित करने के पीछे संसार में अनेक कारण सन्निहित हैं -

मोहजन्य सन्ताप - सांसारिक जीवन में मानव एक सामाजिक प्राणी होने के नाते उसका परिवार के प्रत्येक सदस्यों एवं समाज के रिश्ते सम्बन्धियों के प्रति माया(अज्ञानता) के कारण आसक्ति हो जाती है। न केवल मानव समाज अपितु मानवेतर स्थावर, जङ्गम व सजीव तथा निर्जीव पदार्थ के प्रति भी उसे मोह हो जाता है। जिसे वह शाश्वत समझ कर उसकी क्षणभङ्गुरता अर्थात् अभाव में मानसिक दुर्बलता के कारण विषादग्रस्त हो जाता है। इस अवस्था में वह किंकर्तव्यविमुख होकर कर्मविरहित हो जाता है या अपकर्म का अधिकारी बन जाता है। जिसके दृष्टान्त के रूप में हमें श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति मध्यम पाण्डव अर्जुन की भावाभिव्यक्ति से स्पष्ट हो जाता है। अर्जुन युद्धभूमि में जब अपने सम्मुख स्वजनों तथा गुरुजनों को प्रत्यक्ष करता है तब युद्ध के परिणाम की भयाबहता को सोच कर उसका मानसिक सन्ताप बढ जाता है और वह विषादग्रस्त होकर कहता है -

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। (गी.1.28-30)

उपर्युक्त पद्यों से स्पष्ट ज्ञान होता है कि मोह ही दुर्बलता का कारण है और उससे मानव का मानसिक पर्यावरण प्रदूषित हो जाता है।

तत्त्वज्ञान (निदान) - मोहजन्य इस मानसिक प्रदूषण के रोकथाम हेतु गीता के अनुसार तत्त्वज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि तत्त्वज्ञान के अभाव में वास्तविकता का ज्ञान नहीं हो पाता है, जोकि अनर्थता का कारण है।

जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के मोह दूर करने के उद्देश्य से कहते हैं -

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। (गी.2.16)

इस प्रकार उपर्युक्त पद्य से हमें यह संदेश प्राप्त होता है कि सांसारिक असद् वस्तु एवं सद् वस्तु के तत्त्व का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर अवश्यम्भाविता का अवबोधन के चलते व्यक्ति को मोहजन्य संताप से मुक्ति मिलेगी। योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को माध्यम बनाकर संपूर्ण संसार को संदेश देते हुए बार-बार कहते हैं कि जो अवश्यम्भावी है और जिसके भूत एवं भविष्य के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं हो तो मोहाच्छन्न होकर उस विषय में दुःखी होना सर्वथा निरर्थक है। इस प्रसङ्ग की अन्वर्थता में निम्नांकित पद्य सटीक है -

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।। (गी.2.28)

फलासक्त कामनाजन्य सन्ताप - वर्तमान युग में प्रत्येक व्यक्ति किसी भी प्रकार के कर्म सम्पादन करने से पूर्व उसके फल की प्राप्ति के बारे में सोचने लग जाता है। उसके लाभ, क्षति और उसकी अधिक फलप्रसूता के सम्बन्ध में अत्यधिक तृष्णा या कामना के कारण मानसिक द्वन्द्व से ग्रस्त हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप या तो वह अपकर्म यानी पाप कृत्य में प्रवृत्त होने लगता है या तो उस सत् कर्म से विमुख हो जाता है। ये दोनों ही परिस्थितियां मानसिक पर्यावरण के लिए सर्वथा अस्वास्थ्यकर है। आज समाज में महाव्याधि के रूप में व्याप्त समस्त विसंगतियों व्यभिचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, लुण्ठन, प्रताडन, ईर्ष्या, असूया, कलह आदि के मूल में फलासक्त कामना ही जिम्मेदार है।

निरासक्त कर्म की उपासना व समत्व की भावना (निदान) - इस सन्ताप से मुक्ति का एक मात्र मार्ग है निरासक्त कर्म की उपासना, जो समत्व की भावना से ही सम्भव है। सुख, दुःख, हानि, लाभ, जय, पराजय, अपना, पराया इन सभी बन्धनों से परे जाकर समत्व की भावना से सिर्फ अपना धर्म अर्थात् अपना कर्तव्य एसा समझ कर कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक जीव को धरा पर जन्म लेते ही कर्म करने का अधिकार है, जोकि उसका धर्म ही है। परन्तु कर्म के फल में उसका कतई अधिकार नहीं है। भगवान् ने अर्जुन को माध्यम बनाकर मानव समाज केलिए यही संदेश देते हुए कहा है -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। (गी.2.47)

फल की कामना से रहित होकर कर्म सम्पादन के पीछे यह दर्शन निहित है कि, कर्म का विधान तो हमारे हाथ में है परन्तु उसकी फलप्राप्ति हमारे हाथ मे नहीं है, वह तो जगन्नियन्ता परम पिता के अधीन है। साथ ही हमें किसी के द्रव्य के प्रति भी लोभासक्त न होने का उपदेश दिया गया है। इतना ही नहीं, ईश्वर के प्रति समर्पित होकर स्वार्थ त्याग की भावना से ही यह समस्त वस्तु ईश्वर प्रदत्त ऐसा समझ कर सांसारिक वस्तुओं का उपभोग करने केलिए हमें परामर्श दिया गया है। ईशावास्योपनिषद् का निम्नांकित मन्त्र यहां अत्यन्त प्रासंगिक है -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यचिद्धनम्।। (ईशा.1)

इस अवसर पर ईशावास्योपनिषद् का अन्य एक मन्त्र का निहितार्थ भी विमर्शनीय है। जैसाकि -

एवं त्वं कर्म कुर्वन् जीजिवेषेत् शतं समाः। (ईशा.2)

मन्त्र का अर्थ यह है कि निरासक्त कर्म अर्थात् फल की कामना से रहित कर्म करते हुए समुत्पन्न सकारात्मक मानसिक सबलता के कारण दीर्घायु बनने की इच्छा करनी चाहिए। इसका आशय यह है कि फल की कामना से कर्म करने बाले को जीने का भी अधिकार नहीं है।

इस प्रकार समत्वबुद्धि से युक्त तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मफल से विरक्त होकर सर्वविध बन्धन से मुक्त हो जाता है। परिणामतः उसे निर्विकार परमपद प्राप्त हो जाता है।

इन्द्रियजन्य सन्ताप - मानसिक अस्वस्थता का अन्य एक कारण है इन्द्रियजन्य सन्ताप। जीव मात्र को पीडा देने वाली नेत्र आदि पंच ज्ञानेन्द्रियां वाक् आदि पंच कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर प्रयत्नशील विद्वान् पुरुष के मन को भी विचलित कर देती हैं तो साधारण मनुष्य की दशा के बारे में क्या कहें। परिणाम स्वरूप मानव सन्मार्ग से हटकर असन्मार्ग पर चल पडता है और अनन्त मनस्ताप से व्यथित होने लगता है। कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि पर श्रीकृष्णने अर्जुन को इस दर्शन से परिचय कराते हुए कहा है -

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।। (गी.2.60)

इन्द्रियों की सहायता से मन जब विषयों में प्रवृत्त होने लगता है तब उनमें मनुष्य की आसक्ति हो जाती है, आसक्ति यानी संगति से मन में कामना की उत्पत्ति होती है, कामना के कारण क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से पुनः किंकर्तव्यविमूढता की उत्पत्ति होती है, मूढता के कारण स्मृति शक्ति क्षीण हो जाती है, स्मृति क्षीण होने पर विवेक का

नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश हो जाने से मनुष्य अपनी मर्यादा यानी स्थिति से गिर जाता है। इस प्रकार इन्द्रियजन्य सन्ताप मानव समाज का विनाश का कारण बनता है। यहां और एक पद्य भी अत्यन्त प्रासंगिक एवं महत्त्वपूर्ण है -

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।(गी.2.67)

इन्द्रियों का नियन्त्रण एवं स्थितप्रज्ञता (निदान) - इस इन्द्रियजन्य सन्ताप से मुक्ति हेतु इन्द्रियनिग्रह करते हुए स्थितप्रज्ञता के प्रति यत्नवान् होना ही मानवमात्र केलिए श्रेयस्कर है। सांसारिक गतिविधियों को मूर्तरूप देने केलिए 'पùपत्रमिवाम्भसा' की तरह जीवन यात्रा का निर्बहन करना होगा। इसके लिए कछवे का आचरण ही सर्वोत्तम शिक्षणीय साधन है। आवश्यकता के अनुसार आत्मरक्षार्थ कछवा अपने अङ्ग प्रत्यङ्गों को जिस प्रकार सभी ओर से अपने अन्दर खिंच लेता है उसी प्रकार इन्ि्रद्रयों को अपने विषयों से हटा लेने पर बुद्धि यानी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है। इसी को स्थितप्रज्ञता कहते हैं। यहां भगवद्गाता का निम्नांकित पद्य नितान्त प्रासंगिक है -

यदा संहरते चायं कुर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (गी.2.58)

निष्कर्ष - उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर उपनीत होते हैं कि इन्द्रियों की प्रवृत्ति को संयमित कर मन को पवित्र बनाने पर ही मनुष्य की बुद्ध स्थिर होती है और बुद्धि की स्थिरता होने पर ही भावना या संवेदना का उद्रेक होता है। मानवीय संवेदना से ही शान्ति मिलती है और शान्ति से सभी प्रकार का सुख प्राप्त होता है। जैसा कि गीता में कहा गया है -

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावायतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। (गी.2.66)

अतः साम्प्रतिक भौतिकवाद के युग में प्रत्येक मनुष्य के मन को पवित्र बनाते हुए मानव समाज के कल्याण केलिए श्रीमद्भगवद् गीता का परिशीलन नितान्त प्रासंगिक है। इसलिए उपनिषदों में सही कहा गया है -

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः (मैत्रायणी उपनिषद् 6.34)